



(no subject)

1 message

Rajneesh Sharma <drrajneesh1012@gmail.com>
To: Honey Sharma <honeysharma.1410@gmail.com>

Thu, 13 Aug 2020 at 15:06

इस मुण्डक में 'ब्रह्मविद्या', 'परा-अपरा विद्या' तथा 'ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति', 'यज्ञ और उसके फल', 'भोगों से विरक्ति' तथा 'ब्रह्मबोध' के लिए ब्रह्मनिष्ठ गुरु और अधिकारी शिष्य का उल्लेख किया गया है।

प्रथम खण्ड

इस खण्ड में अंगिरा ऋषि ब्रह्मविद्या की परम्परा का प्रारम्भ में उल्लेख करते हैं। भगवान् ब्रह्मा सभी देवों में प्रथम देव है। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। अथर्वा ने अंगिर को, अंगिर ने सत्यवाह को, सत्यवाह ने अंगिरस को वर अंगिरस ने शौनक को यह विद्या प्रदान की।

शौनक सदृहस्थ था। उसने महर्षि अंगिरस से जाकर पूछा कि वह कौन है, जिसके जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है?

परा-अपरा विद्या— महर्षि अंगिरस ने शौनक को उपदेश देते हुए 'परा-अपरा' विद्या को जानने का महत्त्व बताया कि इन्हें जानने के बाद किसी अन्य को जानने की आवश्यकता नहीं रहती है।

परा यौगिक साधना है और अपरा अध्यात्मिक ज्ञान है। जिस विद्या से 'अक्षरब्रह्म' का ज्ञान होता है, वह 'परा' विद्या है और जिससे ऋग् यजुष, साम, अथर्व, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष का ज्ञान होता है, वह 'अपरा' विद्या है।

'परा' विद्या में योग-साधना | Yoga in Hindi द्वारा मानव अविनाशी परमात्मा तक पहुंचता है और 'अपरा' विद्या द्वारा अध्यात्मिक व आधिभौतिक ज्ञान को शाब्दिक रूप में जाना जाता है।

प्रारम्भ में कारणभूत 'अक्षरब्रह्म' ही था, जिसने इस जगत को अपनी इच्छा से उत्पन्न किया। नाना योनियां बनायीं, मनुष्य बनाया, उसके कर्म निर्धारित किये, अन्न बनाया, अन्न से प्राणों की प्रतिष्ठा की, प्राणों से मन बनाया, मन से उस परब्रह्म तक पहुंचने की जिज्ञासा उत्पन्न की। जो सर्वज्ञ है, सर्वविद् है, उसका तप भी ज्ञान-युक्त होता है; क्योंकि उसी ने इस चराचर तथा नानारूपणी सृष्टि की रचना की है।

द्वितीय खण्ड

इस खण्ड में 'यज्ञ', अर्थात् अग्निहोत्र को मान्यता दी गयी है। यज्ञ में दो आहुतियां देने की उन्होंने बात की है- 'ॐ प्रजापते स्वाहा' और 'ॐ इन्द्राय स्वाहा', अर्थात् समस्त प्रजाओं के परम ऐश्वर्यवान प्रभु के प्रति हम आत्म-समर्पण करते हैं।

महान चैतन्यतत्त्व 'अग्नि' (ब्रह्म), जो हम सभी का उपास्य है, श्रद्धापूर्वक उसे दी गयी आहुति अत्यन्त कल्याणकारी होती है। जिस अग्निहोत्र में आत्म-समर्पण की भावना निहित होती है और जो निष्काम भाव से किया जाता है, उससे समस्त लौकिक वासनाओं का नाश हो जाता है और आहुतियां प्रदान करने वाला साधक ब्रह्मलोक में आनन्दघन परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करता है, परन्तु जो अविद्या-रूपी अन्धकार से ग्रसित होकर कर्मकाण्ड करते हैं, वे मूर्खों की भांति अनेक कष्टों को सहन करते हैं।

जिसने यम-नियमों आदि की साधना से, अपने चित्त को तामसिक व राजसिक वृत्तियों से दूर कर लिया हो, ऐसे ज्ञानवान शिष्य के पास आने पर, गुरु को उसे 'ब्रह्मविद्या' का उपदेश अवश्य देना चाहिए।

द्वितीय मुण्डक

इस मुण्डक में 'अक्षरब्रह्म' की सर्वव्यापकता और उसका समस्त ब्रह्माण्ड के साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

प्रथम खण्ड

इस खण्ड में महर्षि 'ब्रह्म' और 'जगत' की सत्यता को प्रकट करते हैं। जैसे प्रदीप्त अग्नि से सहस्रों चिनगारियां प्रकट होती हैं और फिर उसी में लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार उस 'ब्रह्म' से अनेक प्रकार के भाव प्रकट होते हैं और फिर उसी में लीन हो जाते हैं। वह प्रकाशमान, अमूर्तरूप ब्रह्म भीतर-बाहर सर्वत्र विद्यमान है। वह अजन्मा, प्राण-रहित, मन-रहित एवं उज्ज्वल है और अविनाशी आत्मा से भी उत्कृष्ट है-

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥2॥

वस्तुतः इसी अविनाशी ब्रह्म से प्राण, मन एवं समस्त इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। इसी से जल, वायु, अग्नि, आकाश और विश्व को धारण करने वाली पृथिवी उत्पन्न होती है।

आगे के श्लोक में ऋषिवर उस परब्रह्म का अत्यन्त अलंकारिक वर्णन करते हुए कहते हैं कि अग्नि ब्रह्म का मस्तक है, सूर्य-चन्द्र उसके नेत्र हैं, दिशाएं और वेद-वाणियां उसके कान हैं, वायु उसके प्राण हैं, सम्पूर्ण विश्व उसका हृदय है, पृथ्वी उसके पैर हैं। वह ब्रह्म सम्पूर्ण प्राणियों में अन्तरात्मा रूप में प्रतिष्ठित है। अतः यह सारा संसार उस परमपुरुष में ही स्थित है।

द्वितीय खण्ड

यह 'अक्षरब्रह्म' सभी में व्याप्त है और हृदय-रूपी गुफा में स्थित है। यह दिव्य प्रकाश वाला है। यह परमाणुओं और सूक्ष्मतम जीवों से भी सूक्ष्म है। समस्त लोक-लोकान्तर इसमें निवास करते हैं। यह अविनाशी ब्रह्म, जीवन का आधार, वाणी का सार और मानसिक साधना का लक्ष्य है। यह सत्य, अमृत-तुल्य है, परम आनन्द का दाता है। इसे पाना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। यह 'प्रणव', अर्थात् 'ॐकार' का जाप धनुष है और जीवात्मा तीर है। इस तीर से ही उस लक्ष्य का सन्धान किया जाता है। वह लक्ष्य, जिसे बेधना है, 'ब्रह्म' है। उसका सन्धान पूरी एकाग्रता के साथ किया जाना चाहिए।

इस अखिल ब्रह्माण्ड में सर्वत्र एक वही है। उसी का चेतन स्वरूप अमृत का दिव्य सरोवर, आनन्द की अगणित हिलोरों से युक्त है। जो साधक इस अमृत-सिन्धु में गोता लगाया है, वह निश्चित रूप से अमर हो जाता है।

मुण्डकोपनिषद् के दुसरे खंड में आत्म(स्वयं) और ब्रह्म की बात की गयी है। इसमें अपरा और परा विद्या के बारे में बताया गया है। अपरा विद्या यह संसार है जो कर्ता करण आदि साधनों से होने वाले कर्म और नदी के प्रवाह के समान अविच्छिन्न सम्बन्ध वाला है तथा दुःखरूप होने के कारण प्रत्येक देहधारी के लिए सर्वथा त्याज्य है। उस अपर विद्या (संसार) का उपशमरूप(अंत) मोक्ष परा विद्या का विषय है और वह अनादि, अनंत, अजर, अमर, अमृत, अभय, शुद्ध, प्रसन्न, परमानन्द एवं अद्वितीय है।

इसमें वैराग्य के बारे में बताया गया है की निर्वेद करें अर्थात् वैराग्य करें। इस संसार में कोई भी नित्य नहीं है। सम्पूर्ण कर्मों को त्यागकर जिसकी केवल अद्वितीय ब्रह्म में ही निष्ठा है वह ब्रह्मनिष्ठ कहलाता है। कर्मठ पुरुष कभी ब्रह्मनिष्ठ नहीं हो सकता क्योंकि कर्म और आत्मज्ञान का परस्पर विरोध है। इस प्रकार उन गुरुदेव के पास विधिपूर्वक जाकर उन्हें प्रसन्नकर सत्य और अक्षर पुरुष के सम्बन्ध में पूछें। वह विद्वान - ब्रह्मवेत्ता गुरु अपने समीप आये हुए उस शांतचित्त, इन्द्रियों से विरक्त हुए शिष्य को उस पर विद्या के "पुरुष" शब्दवाच्या अक्षर को, जो क्षरण, क्षत और क्षय (नाश) से रहित होने के कारन अक्षर कहलाता है, उस ब्रह्मविद्या का उपदेश प्रदान करें, यह मुन्कोपनिषद् के द्वितीय खंड में बताया गया है।

तृतीय मुण्डक

इस मुण्डक में 'जीवात्मा' और 'परमात्मा' के सम्बन्धों की व्यापक चर्चा की गयी है। उनकी उपमा एक ही वृक्ष पर रहने वाले दो पक्षियों से की गयी है। यह वृक्ष की शरीर है, जिसमें आत्मा और परमात्मा दोनों निवास करते हैं। एक अपने कर्मों का फल खाता है और दूसरा उसे देखता रहता है।

प्रथम खण्ड

'आत्मा' और 'परमात्मा' की उपमा वाला यह मन्त्र अत्यन्त प्रसिद्ध है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥1॥

अर्थात् साथ-साथ रहने तथा सख्या-भाव वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष (शरीर) पर रहते हैं। उनमें से एक उस वृक्ष के पिप्पल (कर्मफल) का स्वाद लेता है और दूसरा (परमात्मा) निराहार रहते हुए केवल देखता रहता है।

शरीर में रहने वाला 'जीवात्मा' मोहवश सभी इन्द्रियों का उपभोग करता है, जबकि दूसरा केवल दृष्टा मात्र है। जब साधक उस प्राण-रूप परमात्मा को जान लेता है, तब वह अपनी आत्मा को भी उन सभी मोह-बन्धनों तथा उपभोगों से अलग करके, परमात्मा के साथ ही योग स्थापित करता है और मोक्ष को प्राप्त करता है। सत्य की ही सदा जीत होती है-

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।

येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र सत्सत्यस्य परमं निधानम्॥6॥

अर्थात् सत्य की ही विजय होती है, झूठ की नहीं। सत्य से ही देवयान मार्ग परिपूर्ण है। इसके द्वारा ही कामना रहित ऋषिगण उसे (परमपद को) प्राप्त करते हैं, जहां सत्य के श्रेष्ठ भण्डार-रूप परमात्मा का निवास है।

वह ब्रह्म (परमात्मा) अत्यन्त महान है और दिव्य अनुभूतियों वाला है। वह सहज चिन्तन की सीमाओं से परे है। उसके लिए निष्काम और सतत साधना करनी पड़ती है। वह कहीं दूर नहीं, हमारे हृदय में विराजमान है। उसे मन और आत्मा के द्वारा ही पाया जा सकता है। निर्मल अन्तःकरण वाला आत्मज्ञानी उसे जिस लोक और जिस रूप में चाहता है, वह उसी लोक और उसी रूप में उसे प्राप्त हो जाता है।

द्वितीय खण्ड

ब्रह्मज्ञानी होने की इच्छा रखने वाले साधक को सर्वप्रथम अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों का नियन्त्रण करना पड़ता है। इन्द्रिय-निग्रह के उपरान्त उसे अपने सर्वाधिक चलायमान 'मन' को वश में करना पड़ता है। तभी उसे आत्मा का साक्षात्कार होता है। आत्मज्ञान होने के उपरान्त ही साधक ब्रह्मज्ञान के पथ पर अग्रसर होता है।

जब आत्मज्ञानी साधक उस निर्मल और ज्योतिर्मय ब्रह्म के परमधाम को पहचान लेता है, तो उसे उसमें सम्पूर्ण विश्व समाहित होता हुआ दिखाई पड़ने लगता है। निष्काम भाव से परमात्मा की साधना करने वाले विवेकी पुरुष ही इस नश्वर शरीर के बन्धन से मुक्त हो पाते हैं।

'आत्मा' को न तो प्रवचनों के श्रवण से पाया जा सकता है, न किसी विशेष बुद्धि से। इसका अर्थ यही है कि लौकिक ज्ञान प्राप्त करके, आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता। आत्मज्ञान चेतनायुक्त है। वह साधक की पात्रता देखकर स्वयं ही अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है। कामना-रहित, विशुद्ध और सहज अन्तःकरण वाले साधक ही परम शान्त रहते हुए परमात्मा को प्राप्त करने की क्षमता रखते हैं। विवेकी पुरुष उस सर्वव्यापी, सर्वरूप परमेश्वर को सर्वत्र प्राप्त कर उसी में समाहित हो जाते हैं।

108 उपनिषद्स With Upnishad Brahman Commentary (Download)

जिस प्रकार प्रवहमान नदियां अपने नाम-रूप को छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी पुरुष नाम-रूप से विमुक्त होकर उस दिव्य परमात्मा में लीन हो जाते हैं। उसे जानने वाला स्वयं ही ब्रह्म-रूप हो जाता है। वह समस्त लौकिक-अलौकिक ग्रन्थियों से मुक्त हो जाता है। उसे अमरत्व प्राप्त हो जाता है।